
इकाई 1 तत्त्वविवेचन में प्रमाणों का अनुप्रयोग

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 तत्त्वमीमांसा में प्रमाण
- 1.3 तत्त्व का अर्थ एवं अवधारणा
- 1.4 चार्वाक मत में तत्त्वमीमांसा
- 1.5 तत्त्वविवेचन में प्रत्यक्ष
- 1.6 तत्त्वविवेचन में अनुमान
- 1.7 तत्त्वविवेचन में उपमान
- 1.8 तत्त्वविवेचन में शब्द
- 1.9 तत्त्वविवेचन में अनुपलब्धि
- 1.10 प्रमाणफल का प्रतिपादन
- 1.11 सारांश
- 1.12 पारिभाषिक शब्दावली
- 1.13 सन्दर्भग्रन्थ
- 1.14 प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप—

- तत्त्वसिद्धान्त और प्रमाणसिद्धान्त के बीच गहरे अन्तःसम्बन्ध को जान सकेंगे।
- 'हिन्दू तत्त्वसिद्धान्त केवल आस्था का विषय नहीं है, किन्तु एक पुष्ट प्रमाणसिद्धान्त पर आधारित है।' इस तथ्य से भलिभाँति परिचित हो सकेंगे।
- विभिन्न प्रमाणों के आधार पर विभिन्न तत्त्वों का निर्धारण कैसे होता है, यह समझ सकेंगे।
- प्रमाण व्यवस्था इसलिये महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि एक सशक्त प्रमाण व्यवस्था ही हमें वास्तविक तत्त्वबोध तक ले जाता है। इस तथ्य से भी अवगत हो सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

ज्ञान क्या है? ज्ञान प्राप्ति के साधन क्या हैं? इन साधनों की संख्या कितनी है? इत्यादि प्रश्नों को ज्ञानमीमांसीय प्रश्न कहा जाता है। ज्ञानमीमांसा में ज्ञान की वैधता के निर्धारण में जिन ज्ञानात्मक अवयवों की चर्चा की जाती है, उन्हें प्रमाणसिद्धान्त कहा जाता है तथा तत्त्वों का स्वरूप, परिभाषा तथा संख्या इत्यादि पर विचार तत्त्वसिद्धान्त कहलाता है। हिन्दू सभ्यता में तत्त्वसिद्धान्त तथा ज्ञानमीमांसा के बीजतत्त्व वेद में पाये जाते हैं। किन्तु एक सुव्यवस्थित शास्त्र के रूप में इनका वर्णन दार्शनिक ग्रन्थों में

उपलब्ध होता है।

प्राचीन आस्तिक दर्शन सांख्य मत में अपने 25 तत्त्वों की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण तथा (शास्त्र) आगम प्रमाण के द्वारा सिद्ध किया गया है।

इस ईकाई में आप जान सकेंगे कि तत्त्वमीमांसा में प्रमाण की स्थापना कैसे हुई है? तथा प्रमाण सिद्धान्त के अनुप्रयोग ही तत्त्व सिद्धान्त विकसित होता है। इस विवेचन से हम यह भी समझ सकेंगे कि विभिन्न दार्शनिक प्रणालियाँ इसलिये विकसित हुई हैं क्योंकि उन्होंने विभिन्न प्रकार के प्रमाण सिद्धान्तों को अपनाया है। इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप यह समझ सकेंगे कि प्रमाण सिद्धान्त और तत्त्व विवेचन के मध्य सम्बन्धों को समझने के लिये विभिन्न दर्शनों ने विभिन्न प्रमाणों का उपयोग कैसे हुआ है।

1.2 तत्त्वमीमांसा में प्रमाण

भारतीय दर्शन में प्रसिद्ध सिद्धान्त है— 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः', दर्शन ग्रन्थों का प्रारम्भ जिज्ञासा से होता है— अथातो ब्रह्म जिज्ञासा, अथातो धर्म जिज्ञासा, वाक्य इसके प्रमाण हैं। इन वाक्यों में ब्रह्म तथा धर्म नामक तत्त्व को जानने की इच्छा हुई है। भारतीय परम्परा में सन्देह का दार्शनिक और वैज्ञानिक उपयोग हुआ है। एक सुदीर्घ परम्परा है। चार्वाक के सन्देहवाद ने बौद्ध एवं न्याय दर्शन के लिए समृद्ध आधारभूमि तैयार की है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में प्रमाणशास्त्र के महत्त्व पर लिखा है—

प्रदीपः सर्व विद्यानाम् उपायः सर्वभूतानाम्

आश्रयः सर्व धर्माणाम् शश्वदा विक्षिकीमता।

प्रमाण-सिद्धान्त का उपयोग धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त होने में प्रयुक्त होता है। इसीलिए न्याय-सिद्धान्त को सभी दर्शनों ने अपने विचार प्रक्रिया में स्थान दिया है। बेकन का आगमन का सिद्धान्त भी सभी विज्ञानों में प्रयुक्त होता है। यह 16वीं सदी की घटना है। न्याय सिद्धान्त अपने अन्तिम 500 वर्षों में विधिशास्त्र से मिश्रित हो चुका है (स्मृति, अलंकारशास्त्र और वेदान्त) शंकर सभी प्रमाण व्यवहार को अविद्या के अन्तर्गत रखते हैं।

नागार्जुन का ग्रन्थ विग्रहव्यावर्तिनी तथा माध्यमिका कारिका तथा 'श्री हर्ष' के खण्डन-खाद्य में हम एक संरचनात्मक-सन्देहवाद को पाते हैं।

हनुमानाष्टक की स्तुति है—

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो बौद्ध।

बुद्ध इति प्रताण पटवः कर्तेति नैयायिकाः।।

अर्हनित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः।

सोऽयं नो विद्धातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।।

अर्थात्

शैव शिवरूप से, वेदान्ती ब्रह्म रूप से, बौद्ध बुद्ध रूप से प्रमाणकुशल नैयायिक कर्त्तारूप से, जैन अर्हत रूप से और मीमांसक कर्मरूप से जिनकी उपासना करते हैं, वे त्रैलोक्याधिपति श्रीहरि हमें वाञ्छित फल प्रदान करें।

भागवत पुराण में एक प्रसंग आया है, वह इसप्रकार है— सृष्टि करने हेतु ब्रह्मा जी को

भगवान ने कहा – मेरे अनुग्रह से प्राप्त करें।

श्री भगवान् उवाच

अहमेवासमेवाग्रे नान्यधत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥1॥

ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः ॥2॥

यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।
प्रविष्टान्य प्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥3॥

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः ।
अन्वयवतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥4॥

चतुः श्लोकि भागवतम् – 2/9/32-35

श्री भगवान् कहते हैं—

“सृष्टि संरचना से पूर्व मैं ही केवल था। न सत् था ना असत् था मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं था ये सबकुछ है इस रूप में मैं ही हूँ जब कुछ भी नहीं रहेगा तब भी मैं ही रहूँगा/काल स्वरूप परमात्मा सबका साक्षी है।

- सृष्टि की संरचना के पूर्व मैं ही केवल था। न सत् था न असत् था और न दोनों के आभास होने का ज्ञान। मुझसे अतिरिक्त कुछ नहीं था सृष्टि के ना होने पर भी उस सृष्टि के होने पर भी जो कुछ भी प्रतीत हो रहा है वह भी मैं ही हूँ। सृष्टि के रूप में जो स्थित है प्रलय काल में जो शून्य है और उसके बाद भी जो बचा रहेगा वह भी मैं ही हूँ। इतना ही जानने योग्य है।
- जो आभासित वस्तु मुझ मूल तत्त्व के अतिरिक्त मिथ्या प्रतीत हो रही है अथवा विद्यमान होने पर जिसमें मेरी प्रतीति नहीं होती/इसे मेरी ही माया समझनी चाहिये जो अनिर्वचनीय अंधकार की भांति मिथ्या है।
- जैसे प्राणी के पञ्चमहाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश द्वारा रचित छोटे बड़े शरीरों में मैं प्रवेश करते हए भी कारण रूप से विद्यमान रहने के कारण रूप से विद्यमान रहने के कारण प्रवेश नहीं भी करता। वैसे शरीर की दृष्टि से मैं उनमें आत्मा के रूप में विद्यमान हूँ और आत्मदृष्टि से एकमात्र होने के कारण प्रवेश नहीं भी करता।
- जो आत्मा व परमात्मा का तत्त्व जानने की इच्छा रखते हैं उन्हें केवल इतना ही जानने की आवश्यकता है कि अन्वय और व्यतिरेक की पद्धति से सर्वातीत और सर्वस्वरूप एवम् स्वयं प्रकाश भगवान ही सर्वदा सर्वस्वरूप एवम् स्वयं प्रकाश भगवान ही सर्वदा और सर्वत्र विद्यमान हे वही वास्तविक आत्मतत्त्व है। इस अन्वय का व्यतिरेक विधि का दार्शनिक ग्रन्थों में प्रचुर विवेचन हुआ है।

भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध में लिखा है—

वदन्ति तत्त्वच्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ॥1॥

तत्त्ववेत्ता लोग ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से रहित अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप ज्ञान को ही तत्त्व कहते हैं। उसी को कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा कोई भगवान् नाम से पुकारते हैं।

1.3 तत्त्व का अर्थ एवं अवधारणा

मनुष्य अपनी सद्गति के लिए मन, वचन और शरीर से यथाशक्ति प्रयत्न करता रहता है, उन सद्गतियों की पराकाष्ठा को प्रत्येक भारतीय दर्शनकारों ने 'मोक्ष' माना है। मोक्ष का साधन सर्वतन्त्र से सिद्ध और लोक प्रसिद्ध तत्त्वज्ञान ही है। तत्त्व ज्ञान से मोक्ष होता है यह सर्व तन्त्र सिद्धान्त है। अर्थात् सभी दर्शनों में मान्य है।

जगत् में दिखाई देने वाले विविधता के मूलकारण के अनुसन्धान में प्रवृत्त महर्षियों (ज्ञानियों) के अनुसार जितने और जिस प्रकार के तत्त्व भासित हुए, उतने ही और उसी प्रकार के तत्त्वों का निदर्शन उन दर्शनों में किया गया है। अर्थात् जिसको जितना और जिस प्रकार का तत्त्व अपनी बुद्धि के अनुसार भासित हुआ, उसने उसी के अनुसार अपना दर्शन बनाया। इसलिए, भारतीय दर्शन में तत्त्वभेद भी दर्शन-भेद का ज्ञापक है। तत्त्व ज्ञान मोक्ष का साधन है तथा बन्ध को समझने में सहायक है। बन्ध मोक्ष का प्रतिद्वन्दी है। चेतन के साथ अचेतन का जो सम्बन्ध है वही बन्ध है। यद्यपि अचेतन वस्तुएँ भूत-भौतिक-शरीर आदि भेद से कई हैं तथापि जीवात्मा के साथ जो शरीर का सम्बन्ध है, वही मुख्य बन्ध माना जाता है।

चेतन जीवात्मा के साथ अचेतन शरीर का जो सम्बन्ध वही बन्ध है। मोक्ष के अभिलाषी व्यक्ति के लिए यह कर्तव्य हो जाता है कि वह जीवात्मा का शरीर के साथ सम्बन्धरूपी जो बन्ध है, उसके नाश के लिये यत्न करता है। क्योंकि जब तक बन्ध का नाश नहीं हो जाता मोक्ष असम्भव है। यह बात प्रायः सभी दर्शनकारों ने स्वीकार की है। बन्ध के स्वरूप के विचार के सन्दर्भ में मूल तत्त्व का अनुसन्धान करना परमआवश्यक हो जाता है।

तत्त्व का अर्थ—

तत्त्व 'शब्द 'तनु विस्तारे' धातु से बना है, जो विस्तार या निर्माण अर्थ में प्रयुक्त है। 'तत्त्व तन् क्विप् ततो भावः तस्य भावो वा त्व वा तलोपः' यथार्थ, स्वरूपे, परमात्मनि ब्रह्मणि। तदिति सर्वनाम सर्व च ब्रह्म, या तस्य नाम, सर्वनाम तस्य भावः। ब्रह्मत्वे। सांख्योत्तेषु पञ्चविंशतिपदार्थेषु' ('शब्दस्तोममहानिधि)।

अर्थात् यह विस्तृत संसार जिससे ढंका हुआ है, उसके यथार्थ स्वरूप को तत्त्व कहा जाता है। शब्दस्तोममहानिधि के इस निरुक्ति में तत्त्व रूप में दो विषय रखे गये हैं— 1. ब्रह्म तथा 2. सांख्योक्त पञ्चविंशति तत्त्व। अर्थात् यह विस्तृत संसार तो ब्रह्म से पूर्णतः आच्छादित है या सांख्योक्त पञ्चविंशति तत्त्वों से आच्छादित है। इनका जो यथार्थ स्वरूप है अर्थात् यथार्थतः ब्रह्म या पञ्चविंशति तत्त्वों का जो स्वरूप है, उसको तत्त्व कहा जाता है। संक्षिप्ततः तत्त्व की निरुक्ति करते हुए कहा गया है कि— 'तनोति सर्वान् व्याप्य आस्ते इति तत्त्वम्' अर्थात् जो इस समस्त सृष्टि को 'तनोति' अर्थात् अपने विस्तार से ढंका है तथा सृष्टिगत रचनाओं में कारण रूप में व्याप्त है, उसे तत्त्व कहा जाता है।

तत्त्व का लक्षण— काश्मीर के शैव दर्शन के आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने ग्रन्थ तत्त्वालोक में तत्त्व का लक्षण निर्धातिर करते हुए लिखते हैं वह अति महत्त्वपूर्ण है।

‘स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मार्थे यद्वयापि स्वसदृशगुणे।

आस्ते सामान्यकल्पेन तननात् व्याप्तृभावतः॥

तत्त्वं क्रमशः पृथिवी प्रधानं पुंशिवादयः।’

अर्थात् स्वकीय कार्य में यानि अपने द्वारा किये गये कार्य में, धर्म समुदाय में, या स्वसमान गुण वाले वस्तु में सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को तत्त्व कहते हैं। यहाँ पुनः उदाहरण देकर तत्त्व को समझाया गया है कि क्रमशः पृथिवी, प्रधान अर्थात् प्रकृति, पुरुष आदि तत्त्व हैं। यहाँ आदि शब्द से इन तीनों के अतिरिक्त सांख्योक्त अन्य तत्त्वों का बोध होता है।

तत्त्व शब्द की निरुक्ति से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्व से तात्पर्य सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त मूलरूप सत्ता है। इस लक्षण में जो स्वकीय कार्य या ‘स्वस्मिन् कार्येऽथ’ कहा गया है, वह तत्त्व के लिए कहा गया है कि— ‘स्वस्मिन् कार्येऽथ’ अर्थात् जो अपने द्वारा किये गये कार्य में यानि अपने द्वारा उत्पन्न किये गये सम्पूर्ण कार्य—द्रव्यों में, सम्पूर्ण धर्मसमूह में अर्थात् इस सृष्टि के समस्त व्यवहार या समस्त गुण वाले वस्तुओं में सामान्य रूप से अर्थात् प्रत्येक भावों में अपने इस प्रकार के सृष्टि—व्यापार या समस्त सृष्टि—संचालन प्रक्रियाओं में, अथवा सम्पूर्ण अपने समान भी देख रहे स्वरूप में जिसमें एकत्व भाव का ज्ञान हो, व्याप्त रहने वाले को तत्त्व कहा जाता है। इस लक्षण के द्वारा तत्त्व शब्द की निरुक्ति के अनुसार ही इसके लक्षण को भी आधार पर ही तत्त्व—विनिश्चय किया गया है। इस सृष्टि में हम जो कुछ भी देख रहे हैं या जिस किसी का भी प्रत्यक्ष कर रहे हैं, वे सभी द्रव्य हैं, क्योंकि जो कुछ भी प्रत्यक्षगम्य है, वह भौतिक सृष्टि है तथा जिसका हम अलौकिक या योगज प्रत्यक्ष के द्वारा या ज्ञानयोग से ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह आध्यात्मिक सृष्टि है। इस प्रकार इन्द्रियादि की सहायता से या योगज प्रत्यक्ष के द्वारा हम जो कुछ भी प्रत्यक्षीकृत कर रहे हैं, वह द्रव्य है। अतः यहाँ तत्त्व के लक्षण को द्रव्याधार पर ही स्पष्ट किया गया है अर्थात् तत्त्व के लक्षण को स्पष्ट करने के लिए द्रव्य को आधार बनाया गया है। द्रव्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि जिसमें गुण व कर्म समवाय सम्बन्ध से हों तथा जो समवायि कारण हो उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य, स्वसमान द्रव्य व स्वसमान गुण उत्पन्न करता है। यहाँ इस लक्षण में तत्त्व की व्यापकता द्रव्य, गुण, कर्म में सामान्य सिद्धान्त के आधार पर दर्शायी गई है, अतः यह लक्षण आयुर्वेद की दृष्टि से व्यावहारिक, युक्तिसंगत और उपादेय है। यदि उपर्युक्त लक्षण के एक—एक पद को समझा जाय तो इसका लक्षण अतिस्पष्ट हो जाता है।

1. स्वस्मिन् कार्येऽथ— अपने द्वारा उत्पन्न सभी कार्य—द्रव्यों में ‘आस्ते सामान्यकल्पेन तननात् व्याप्तृभावतः’ सामान्य रूप में व्याप्त है या कार्यद्रव्यों में व्याप्त होकर उन्हें आच्छादित किये हुए है। इस प्रकार यहाँ ‘कार्येऽथ’ से स्पष्ट किया गया है कि अपने द्वारा उत्पन्न समस्त कार्य—द्रव्यों में सामान्य रूप से व्याप्त रहने वाला तत्त्व है। यहाँ सामान्य का अर्थ यह है कि प्रत्येक कार्य—द्रव्य में वह अपने स्वरूप में विद्यमान रहता है; परन्तु कार्य—द्रव्यों की भिन्नता के कारण उसकी सामान्यता या एकत्व दृष्टिगोचर नहीं होता है। जैसे— स्नेह घृत—दुग्ध में है, उस दुग्ध से बने खोया में भी है, किलाट में भी, दही में भी है। अर्थात् दुग्ध से उत्पन्न समस्त विकारों में है तथा सम्पूर्ण विकारों में अपने स्वरूप में विद्यमान है, अतः स्नेहत्व

सभी द्रव्यों में है। इसी प्रकार जिस तत्त्व से कार्य—द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, वह उन कार्य—द्रव्यों में समान रूप से व्याप्त रहता है। इस प्रकार यहाँ द्रव्य में तत्त्वता प्रदर्शित की गई है। द्रव्य में गुण कर्म आश्रित रहते हैं, अतः जब समस्त कार्य द्रव्यों को वह उत्पन्न कर उसमें व्याप्त रहता है, तो उसके द्वारा उत्पन्न कार्य—द्रव्यों में उसकी व्यापकता स्वाभाविक है, अतः पुनः कहा गया है कि—

2. 'धर्मार्थे यद्' अर्थात् धर्मसमुदाय में जो 'आस्ते सामान्यकल्पेन तननात् व्याप्तभावतः' अर्थात् जो सामान्य रूप में व्याप्त है, वह तत्त्व कहा जाता है। यहाँ धर्म का तात्पर्य समस्त सृष्टिगत व्यवहारों अथवा कर्मों से है। इसके अन्तर्गत लोकगत जो समस्त कर्मजन्य व्यवहार है या विभिन्न क्रियायें हैं या पुरुषगत या प्राणियों के समस्त कर्मजन्य व्यवहार हैं, वह उसमें सामान्य रूप से व्याप्त रहता है। जैसे इस सृष्टि में समस्त प्राणियों में एकत्व स्थापित करने वाला भाव चौतन्यानुवृत्ति या क्रियाशीलता या गतिशीलता है। इस एकत्व वृत्ति में जो सामान्य रूप में विद्यमान रहता है, वह तत्त्व है। इस प्रकार यहाँ समस्त कर्मों में उसकी व्यापकता दर्शायी गई है। पुनः गुण में तत्त्व की व्यापकता दशात हुए कहा गया है कि—

3. 'यद्वयापि स्वसदृशगुणे' अर्थात् जो अपने समान गुण में या गुणयुक्त वस्तुओं में व्याप्त हो (वास्तव में 'स्वसदृशगुणे' का तात्पर्य 'अपने समान गुण में' होता है; परन्तु कतिपय विद्वान् इसका 'गुणयुक्त वस्तुओं में' अर्थ लगाते हैं। वस्तुओं के लिए तो 'स्वस्मिन् कार्येऽथ' कहा ही गया है; परन्तु विद्यार्थी संदिग्धता का अनुभव न करें, इस दृष्टिकोण से यहाँ 'गुणयुक्त वस्तुओं में' कहा गया है, अथवा 'जो अपने समान गुण में' यह अर्थ समझना चाहिए) 'आस्ते सामान्यकल्पेन तननात् व्याप्तभावतः' अर्थात् जो सामान्य रूप से व्याप्त हो, उसे तत्त्व कहते हैं।

प्रारम्भ से आज तक मानव तत्त्वज्ञान में संलग्न है। अपने बुद्धिविशेष, साधनविशेष तथा मार्गविशेष के कारणानुरूप तत्त्वदर्शन करता रहा है। तत्त्व का जो यथार्थ रूप कहा जाता है (यहाँ तत्त्व के यथार्थ रूप का तात्पर्य उत्पादक भाव या सृष्टि के उत्पादक भाव के यथार्थ रूप से है) वह अपने-अपने बुद्धि आदि के अनुसार कहा जाता है। यथा—एक पालतू पक्षी की आवाज को या किसी ध्वनिविशेष को अपने-अपने कल्पना रूप में समझा जाता है परन्तु जो ध्वनि या शब्द का यथार्थ स्वरूप है, उसे यथार्थ तत्त्वदर्शी ही समझ सकते हैं। उसी प्रकार तत्त्व के बारे में भी प्राचीन वैज्ञानिक से आधुनिक वैज्ञानिक तक तत्त्वचिन्तन कर रहे हैं।

वस्तुतः इस संसार के सभी प्राणी दुःख से आत्यन्तिक छुटकारा पाना चाहते हैं, दुःख का सर्वथा नाश भगवत्साक्षात्कार के बिना नहीं हो सकता श्रुति कहती है— 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अम्नाय।' अर्थात् परमात्मा को जानकर ही आत्यन्तिक दुःख से छुटकारा मिलता है। उपनिषद कहते हैं कि, परमात्मा का साक्षात्कार श्रवण, मनन और निदिध्यासन से होता है। गुरु से परमेश्वर के स्वरूप ज्ञान और उसके गुणों का श्रवण, पुनः युक्तिपूर्वक चिन्तन तथा मनन, पुनः अपने अन्तःकरण में भावन से मनुष्य आत्म—साक्षात्कार प्राप्त करता है। महर्षियों ने इसे इस रूप में भी कहा है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यास बलेन च ।

त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञा लभते योगमुत्तमम् ॥

अवधेय है कि मनन अनुमान के अधीन है अतः अनुमान का स्वरूप है। यह अनुमान व्याप्ति ज्ञान के अधीन है। व्याप्ति ज्ञान हमें पदार्थ विवेक से प्राप्त होता है। विभिन्न पदार्थों में से निर्मित इस जीवजगत में कौन व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध है।

इसलिये 'अथातो धर्म जिज्ञासा' इत्यादि सूत्रों के द्वारा वस्तुवादी दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद ने छः पदार्थों में पूरे विश्व को समझने की विधि दी है। प्रमाण सिद्धान्त द्वारा तत्त्वसिद्धान्तों की स्थापना विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने किस प्रकार से स्थापित किया है इनका संक्षिप्त विवरण क्रमशः इसप्रकार है—

1.4 चार्वाक मत में तत्त्वमीमांसा

जय शशि भट्ट जैसे तार्किक ने अपने ग्रन्थ तत्त्वोपल्लवसिंह के मंगलाचरण में लोकव्यवहार की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा है कि तत्त्व (सिद्धान्तों) का विनाश करने वाले उस विषम कृति का निश्चितरूप से मैं सृजन करने जा रहा हूँ। इसका फल कुछ भी नहीं (जैसा कि स्वर्गादि) है। यह निश्चित है कि इसप्रकार के कर्मों का परमार्थ के विज्ञानों ने भी कहा है, "लौकिक मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। लोक व्यवहार के प्रति बालक और पण्डित समान होते हैं।"

तत्त्वमीमांसा की सिद्धि प्रमाणों से होती है। प्रमाणों की स्थापना के लिए सत्लक्षण से युक्त प्रमाण का निश्चय करना चाहिए। प्रमाण के द्वारा ही प्रमेयों की सिद्धि होती है। उसका अभाव होने पर प्रमाण और प्रमेय का सद्व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। उस अवस्था में आत्मा (अपने) में रूप की अवस्थिति होती है और घड़े आदि में मुख हैं। इन अनुचित तथ्यों का व्यवहार करना होगा।

जहाँ कारण दोषयुक्त है और जहाँ मिथ्याज्ञान है ऐसा बोध होता है वही अप्रामाणिक ज्ञान अथवा विसंवादी वळचनात्मक ज्ञान है ऐसा निश्चय होता है। (यत्र च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एव असमीचीनः प्रत्ययः शावरभा 1/15)

1.5 तत्त्वविवेचन में प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष प्रमाण की मान्यता के विषय में किसी भी दार्शनिक में मत भेद नहीं है। उसके स्वरूप एवं क्षेत्र के विषय में मतभेद हो सकता है। प्रत्यक्ष प्रमाण के अस्तित्व को सभी स्वीकार करते हैं। बौद्ध दर्शन स्वलक्षण का ज्ञान प्रत्यक्ष से मानता है। न्याय दर्शन व्यावहारिक पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से एवं अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अनुमान प्रमाण से मानता है। न्यायदर्शन अनुमान प्रमाण को प्रत्यक्ष से भी बलवत्तर मानता है। कभी-कभी तो न्यायदर्शन यह भी कहता है, कि प्रत्यक्ष "परिकल्पितमपि अर्थम् अनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्क रसिकाः" अर्थात् प्रत्यक्ष दृष्टवस्तु का ज्ञान भी तर्क रसिक विद्वान् अनुमान प्रमाण के द्वारा करते हैं। इसलिये न्यायदर्शन को तर्क प्रधान दर्शन कहा जाता है।

अद्वैत वेदान्त का मत बौद्ध एवं नैयायिक दोनों से भिन्न है। वह बौद्धों के इस मत से सहमत नहीं है, कि परमतत्त्व का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है।

उसका प्रत्यक्ष प्रमाण, अन्य दर्शनों के प्रत्यक्ष से अत्यन्त भिन्न है। इस प्रमाण के तात्विक विवेचन के रूप में यह कहा जा सकता है कि अद्वैत प्रत्यक्ष प्रमाण के विश्लेषण से मुख्य रूप से निम्नांकित विषयों की सिद्धि करता है—

1. मिथ्यात्व की सिद्धि

2. प्रमाता एवं विषय की ऐक्य सिद्धि
3. अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान
4. ब्रह्मज्ञान

इसके अतिरिक्त भी प्रत्यक्ष के द्वारा अन्य विषयों का बोध होता है।

1.6 तत्त्व विवेचन में अनुमान

चार्वाक के अतिरिक्त प्रायः सभी दार्शनिक अनुमान प्रमाण मानते हैं। चार्वाक अनुमान के आधार व्याप्ति का भी खण्डन करता है। इस व्याप्ति खण्डन की प्रक्रिया का निर्देश प्रमाण निरूपण के अवसर पर किया गया है। चार्वाक अनुमान प्रमाण क्यों नहीं मानता, इसका मूल कारण यह है कि यदि वह अनुमान प्रमाण मान लेगा, तो अनुमान प्रमाण के कारण सिद्धान्त रूप से जिन पदार्थों को मानना पड़ेगा, उन सभी को मानना पड़ेगा। अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि अनुमान प्रमाण के द्वारा होती है, यदि चार्वाक भी अनुमान प्रमाण मान लेगा, तो उसको भी अतीन्द्रिय पदार्थ मानने पड़ेंगे। चार्वाक अतीन्द्रिय पदार्थ को मानने में कोई रुचि नहीं रखते।

बौद्ध दर्शन अनुमान प्रमाण मानते हैं, किन्तु उसका तात्त्विक विवेचन भिन्न है। बौद्ध अनुमान के द्वारा सामान्य लक्षण का ज्ञान मानते हैं, किन्तु वह भी कल्पित है। अनुमान प्रमाण को न्याय, सांख्य, मीमांसा, आदि दर्शन मानते हैं, किन्तु उनका अनुमान आत्मा, ईश्वर, धर्म, अधर्म, अपूर्व, आदि की सिद्धि तक ही सीमित है।

वेदान्त इस प्रसंग में न तो बौद्धों से सहमत है, और न न्याय आदि से। उसका कथन है कि आत्मा या ईश्वर का ज्ञान अनुमान से नहीं हो सकता। आत्मा या ब्रह्म, निर्गुण है। स्वयं सिद्ध है। उसके विषय में व्याप्ति नहीं बन सकती है। इसलिये उसका ज्ञान अनुमान से नहीं हो सकता। जगत कारण के रूप में ईश्वर की सिद्धि अनुमान से नहीं अपितु श्रुति से होती है। "जन्माद्यस्ययतः" यह ब्रह्मसूत्र का द्वितीय सूत्र इसका प्रतिपादक है। ईश्वर या ब्रह्म का तटस्थ लक्षण इस सूत्र में बताया गया है। इस तटस्थ लक्षण की सिद्धि भी श्रुति से ही होती है। श्रुति में कहा गया है कि "यतो व इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति" इत्यादि। जिसके द्वारा समस्त प्रपंच की उत्पत्ति स्थिति एवं भंग होता है, वही ब्रह्म है।

इसप्रकार जगत् जन्मादि का कारण ब्रह्म है, यहाँ पर यह शंका हो सकती है, कि सांख्य आदि दर्शन प्रकृति, परमाणु, आदि को जगत् का कारण मानते हैं। वेदान्त ब्रह्म को जगत् का कारण मानता है। इसका क्या आधार हो सकता है? वेदान्त ने इसके उत्तर के रूप में "शास्त्रयोनित्वात्" नामक तीसरे सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की है। इस सूत्र की दो प्रकार की व्याख्याएँ हैं। पहली व्याख्या है: शास्त्रं योनिः प्रमाणं यस्मिन्, तस्याभावः शास्त्रयोनित्वं तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म ही जगत् का कारण है, और उस ब्रह्म की सिद्धि शास्त्र अर्थात् वेद से होती है। ब्रह्मशास्त्र प्रमाणक है, शास्त्र अर्थात् वेद में जगत् के कारण के रूप में ब्रह्म का निरूपण किया है। इसलिये ब्रह्म जगत् का कारण है।

पहली व्याख्या में 'योनि' शब्द का अर्थ प्रमाण है, तथा दूसरी व्याख्या में 'योनि' शब्द का अर्थ कारण है। इसका अभिप्राय यह है, शास्त्रस्य योनिः, शास्त्रं योनिः तस्यभावः शास्त्रयोनित्वं तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्, अर्थात् ब्रह्म विषयक विवेचना में प्रमाण के रूप में शास्त्र का कारण है। शास्त्र ही हमें बताते हैं कि इस जगत् का कारण ब्रह्म है।

इसप्रकार ब्रह्म या ईश्वर की सिद्धि अनुमान से नहीं बल्कि श्रुति प्रमाण से होती है।

जहाँ-जहाँ व्याप्ति बनती है, वहाँ-वहाँ अनुमान प्रमाण के द्वारा ज्ञान हो सकता है, किन्तु जहाँ व्याप्ति नहीं बनती उसका ज्ञान अनुमान के द्वारा नहीं हो सकता। निर्गुण ब्रह्म के विषय में किसी प्रकार की व्याप्ति नहीं बनती, इसलिये उसका ज्ञान अनुमान प्रमाण के द्वारा नहीं हो सकता।

यद्यपि अनुमान के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता है, तथापि अनुमान का वेदान्त सिद्धान्त में तात्त्विक महत्त्व है। उसके मत से अनुमान के द्वारा स्वतंत्र विधि से चाहे ब्रह्म का ज्ञान भले ही न हो फिर भी अनुमान ब्रह्मज्ञान का सहायक अवश्य है। श्रुति सम्मत अनुमान से या श्रुतिसमर्थक अनुमान से ब्रह्म ज्ञान की पुष्टि होती है, अनुमान स्वतंत्र रूप से ब्रह्मज्ञान का कारण नहीं बन सकता। वेदान्त ने न सिर्फ तत्त्व रूप में ब्रह्म की सिद्धि में अनुमान की भूमिका को नकारते हैं बल्कि जगत प्रपंच का कारण सांख्य दर्शन की त्रिगुणात्मिका प्रकृति नहीं, तथा न्याय का परमाणु भी जगत प्रपंच का कारण नहीं, इत्यादि विकल्पों का खण्डन, श्रुतिमूलक अनुमान के आधार पर करने के अन्तर, वेदान्त ने ब्रह्म को जगत का अभिन्न निमित्तोत्पादन कारण माना है। इसकी सिद्धि श्रुतिमूलक अनुमान से की गयी है। इसके अतिरिक्त श्रुतियों का समन्वय अद्वैत सिद्धान्त में किस प्रकार होता है, और किस प्रकार परस्परविरोधिनी श्रुतियों के तात्पर्य का अवधारण किया जायेगा? इत्यादि प्रसंगों में भी, श्रुतिमूलक अनुमान सहायक होता है। इसप्रकार तत्त्व की अवधारणा के विषय में यद्यपि अनुमान साक्षात् सहायक नहीं है, फिर भी, परोक्षरूप से उसकी सहायता महत्त्वपूर्ण है। व्यावहारिक क्षेत्र में अनुमान की तत्वावधारण विषयक सहायता वेदान्त को अवश्य मान्य है। इसप्रकार वेदान्त बौद्धिक अनुमान को परमतत्त्व के विषय में समर्थ न मानते हुए भी, इसका सर्वथा तिरस्कार नहीं करता है। बल्कि उसकी सीमा निर्धारित कर देता है, अन्य दार्शनिक ऐसा नहीं करते। जगत् का मिथ्यात्व, अज्ञान का अस्तित्व, एवं जीव-ब्रह्म का ऐक्य भी, श्रुति समर्थित अनुमान के माध्यम से ही, सिद्ध होता है।

अनुमान का प्रयोग:-

परलोक-सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण माना जाता है और अनुमान प्रमाण को न मानने पर परलोक आदि की सिद्धि नहीं होती।

न्याय दर्शन में अनुमान से अतीत वर्तमान भविष्य में होने वाली घटनाओं की सिद्धि की जाती है। सड़क पर पानी देखकर वर्षा, आसमान में बादल देखकर होने वाली बारिश तथा पहाड़ी नदी में पानी का बढ़ना देखकर पर्वत पर हो रही वर्षा का ज्ञान अनुमान से ही सिद्ध होता है।

1.7 तत्त्वविवेचन में उपमान

वेदान्त में तात्त्विक दृष्टि से उपमान के द्वारा मिथ्यात्व की सिद्धि भी होती है। जिस प्रकार 'इदं रजतम्' सीपी में चांदी है। यह ज्ञान मिथ्या है, उसी प्रकार जगत भी मिथ्या है। उपमान प्रमाण से जगत् में रजत् सादृशं की सिद्धि होती है अतः जैसे इदं में अध्यस्त रजत मिथ्या है, उसी प्रकार ब्रह्म में अध्यस्त में जगत् भी मिथ्या है। ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ में जड़त्वात् परिच्छिन्नत्वात् इन हेतुओं से जगत् को मिथ्या सिद्ध किया जाता है, किन्तु इस स्थल पर भी उपमान सहायक होता है, जड़ एवं परिच्छिन्न वस्तु का सादृश्य जगत् में प्रतीति होने से, जगत् भी मिथ्या है यह सिद्ध होता है। इसप्रकार उपमान प्रमाण का भी तात्त्विक दृष्टि से अद्वैत वेदान्त में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

1.8 तत्त्वविवेचन में शब्द

तत्त्व विवेचन में शब्द प्रमाण का प्रमुख स्थान है। ब्रह्म का निर्वचन शब्द प्रमाण के आधार पर ही किया जा सकता है। उसी को श्रुति प्रमाण भी कहते हैं। श्रुति एवं अनुभव दोनों ही ऐसे प्रमाण हैं, जिनके माध्यम से ब्रह्म का ज्ञान किया जा सकता है। ब्रह्म; जगत् को उत्पन्न करता है, जगत् का पालन करता है तथा उसका नाश भी करता है। उपनिषद् वाक्यों एवं ब्रह्मसूत्र के आधार पर भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। प्रायः सभी उपनिषद् वाक्यों के माध्यम से ब्रह्म की ही सिद्धि होती है। अभेद का प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् वाक्यों के रहते हुए, इन वाक्यों का दूसरा अर्थ नहीं किया जा सकता। कुछ दार्शनिक उपनिषद् वाक्यों का “कर्ता एवं देवता रूप” अर्थ करते हैं।

इस विषय में यह प्रश्न उठता है कि श्रुति वाक्यों के माध्यम से जिस ब्रह्म का प्रतिपादन होता है, वह ब्रह्म पहले से सिद्ध है या असिद्ध। यदि ब्रह्म पहले से सिद्ध है, तो उसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण के माध्यम से होना चाहिए। जैसे घट, पट, आदि पदार्थ पहले से सिद्ध हैं, उनका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। यदि ब्रह्म भी पहले से सिद्ध है और उसी का प्रतिपादन उपनिषद् वाक्यों से होता है, तो उपनिषद् वाक्य पूर्व-सिद्ध ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं। पूर्व सिद्ध वस्तु का प्रतिपादनकर्ता, उसका मूल प्रतिपादक नहीं होता, अपितु सिद्ध का प्रतिपादन करने से वह अनुवादक होता है। अनुवाद का प्रामाणिक नहीं माना जाता, इसलिए श्रुति वाक्यों के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन मानना उपयुक्त नहीं है।

इस आक्षेप के समाधान के रूप में यह कहा जाता है कि ब्रह्म, सिद्ध वस्तु तो अवश्य है, किन्तु उसका प्रतिपादन श्रुति के अतिरिक्त अन्य से नहीं हो सकता। “तत्त्वमसि” इसप्रकार के अभेद का प्रतिपादन श्रुति के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रमाण से सम्भव नहीं है। इसलिए श्रुति को ही मूलरूप से ब्रह्म का प्रतिपादक माना जाता है।

यहाँ पर पुनः यह प्रश्न उठता है कि किसी भी वस्तु के विषय में दो प्रकार के विकल्प होते हैं— या तो कोई वस्तु किसी गुण के कारण ग्रहण करने योग्य होती है, इसी को उपादेय भी कहते हैं। या किसी विशेष दोष के कारण ग्रहण करने योग्य नहीं होती है; इसी को अनुपादेय या हेय कहते हैं। अर्थात् कोई भी वस्तु या तो हेय होगी या उपादेय होगी। हेय का तात्पर्य जो वस्तु हेय या उपादेय होगी, उसका सम्बन्ध किसी न किसी क्रिया से होगा। ब्रह्म का सम्बन्ध किसी भी क्रिया के साथ नहीं माना जाता। इसलिए ब्रह्म न तो हेय है, न उपादेय। वह हेय एवं उपादेय दोनों ही प्रकार की विशेषताओं से रहित है। इस स्थिति में ब्रह्म का प्रतिपादन करना सार्थक नहीं है। श्री शंकराचार्य जी का कथन है कि ब्रह्म हेय एवं उपदेय से रहित है, किन्तु उसी के प्रतिपादन से सभी प्रकार के क्लेशों का नाश होता है। उसी के माध्यम से एवं उसी के ज्ञान से दुःखों की निवृत्ति होती है, अतः उसका प्रतिपादन करना सार्थक है और चूँकि उसका प्रतिपादन शब्द के माध्यम से ही हो सकता है, इसलिए शब्द-प्रमाण अतीव उपयोगी है।

1.9 तत्त्वविवेचन में अनुपलब्धि

अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त में जिनते भी प्रमाण माने गये हैं, उन सभी प्रमाणों का मुख्य लक्ष्य अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा एवं जगत् को मिथ्या सिद्ध करना है। प्रत्यक्ष प्रमाण ने प्रत्यक्ष रूप से, अनुमान प्रमाण ने व्याप्ति के माध्यम से, उपमान प्रमाण ने सादृश्य के

द्वारा, अर्थापत्ति प्रमाण ने अन्यथानुपपत्ति के द्वारा जगत् को मिथ्या सिद्ध किया है। किन्तु अनुपलब्धि प्रमाण ने ब्रह्म में जगत् का अभाव सिद्ध किया है। प्रपंच के अभाव के द्वारा या प्रपंच को मिथ्या सिद्ध करने के माध्यम से अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा करना ही सभी प्रमाणों का मुख्य उद्देश्य रहा है। अन्य प्रमाणों ने जगत् को मिथ्या सिद्ध करके अद्वैत की सिद्धि की है और अनुपलब्धि प्रमाण ने ब्रह्म में जगत् का अभाव सिद्ध करके ही अद्वैत तत्त्व की सिद्धि की है।

वेदान्त दर्शन में प्रपंच का अभाव सिद्ध करने के लिये कई युक्तियाँ दी गयी हैं। किसी पदार्थ का अपने अधिकरण में जो तीनों कालों में अभाव रहता है, वह अभाव इसका द्योतक है कि वह वस्तु मिथ्या है या असत्य। जैसे वायु में रूप नहीं है, इसलिये रूप की प्रतीति वायु में नहीं हो सकती। भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् काल में कभी भी वायु में रूप की प्रतीति नहीं होगी, अतः वायु में रूप का अत्यन्त अभाव माना जाता है और उसी वायु अधिकरण में यदि रूप की प्रतीति हो तो उसे मिथ्या माना जा सकता है। उसी प्रकार ब्रह्म में भी जगत् का तीनों काल में अभाव है। जगत् की सत्ता पूर्वकाल में भी सत्य नहीं थी, वर्तमान में भी रज्जु-सर्प के समान सत्य नहीं है और बाद में भी सत्य नहीं रहेगी। रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है और इसका बोध भी होता है। प्रामाणिक प्रत्यक्ष से विचार करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि यह रज्जु पूर्वकाल में भी सर्प नहीं थी और न भविष्य में अर्थात् बाध प्रतीति के अत्रतर भी सर्प रहेगी। अतः मध्यवर्ती समय में जो भी इसको सर्प माना जा रहा है वह भ्रमात्मक है, मिथ्या है। इसप्रकार वेदान्त, अनुपलब्धि प्रमाण के माध्यम से जगत् का अभाव सिद्ध करता है।

वेदान्त ने उसने जगत् की अभाव-सिद्धि के लिए अन्य तर्क भी दिये हैं। जैसे घट में पट का अभाव है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् का अभाव है। इस अभाव की कई प्रक्रियाएँ हैं। एक तो यह है कि अभाव का अधिकरण उत्पन्न होता है और तात्त्विक दृष्टि से वह अधिकरण भी असत्य है। इसप्रकार की परस्पर एक-दूसरे के अधिकरण में, एक-दूसरे के अस्तित्व के अभाव की प्रतीति केवल लोक व्यवहार के लिए कल्पित जागतिक पदार्थों में ही होती है। जैसे- यह घट, पट नहीं है अर्थात् जिस प्रकार घट में पट के अभाव की या पट के भेद की प्रतीति होती है, उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् के अभाव की प्रतीति होती है। किन्तु घट, पट के परस्पर अन्योन्य अभाव की अपेक्षा, ब्रह्म में जगत् का अभाव भिन्न प्रकार का है। घट और पट दोनों एक जैसे हैं, व्यावहारिक रूप से दोनों का अस्तित्व है, किन्तु ब्रह्म और जगत् में ब्रह्म परमार्थ सत् एवं जगत् मिथ्या है, व्यावहारिक सत्ता है इसलिए दोनों समान कोटि के नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त एक ऐसा भी परस्पर अभाव होता है, जिसके अधिकरण की उत्पत्ति नहीं होती। इसप्रकार के अभाव को अनादि अभाव मानते हैं। जैसे- जीव, उपाधि के कारण ब्रह्म से भिन्न है। उसका अधिकरण ब्रह्म है, वह नित्य है। जीव, उपाधि के कारण ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होता है। यह प्रतीति अनादिकाल से चली आ रही है, क्योंकि इस प्रतीति का कारण अविद्या भी अनादि है, अतः प्रतीति भी अनादि है। वेदान्त इस भेदात्मक, प्रतीति को अनादि तो मानता है, किन्तु इस प्रतीति का भी विनाश होता है। वह यह भी स्वीकार करता है कि अज्ञान का नाश हो जाने के पश्चात् सभी प्रकार की भेद प्रतीतियाँ समाप्त हो जाती हैं; इसलिए भेद की कल्पना का मूल कारण अज्ञान ही है। ज्ञानी को जब यह प्रतीति होती है कि "नेह नानास्ति किञ्चन, अहं ब्रह्मास्मि" तो उसकी दृष्टि में कोई भी भेद नहीं रहता। भेद उपाधियों की निवृत्ति के पश्चात् भेदों की भी निवृत्ति हो जाती है। जैसे- एक ही आकाश को घटाकाश, मठाकाश आदि के रूप में जाना जाता है, किन्तु घट एवं मठ उपाधियों को

हटाने के बाद शुद्ध आकाश रह जाता है। उसी प्रकार एक ही ब्रह्म को जीव, जीवसाक्षी आदि कई रूपों में जाना जाता है, किन्तु उपाधियों के हटने पर शुद्ध ब्रह्म ही रह जाता है। इन उपाधियों के अभाव को ही अनुपलब्धि प्रमाण सिद्ध करता है तथा इसी रूप से प्रपञ्च के अभाव की सिद्धि एवं अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा करता है। तत्त्व विवेचन में अनुपलब्धि प्रमाण का एक योगदान यह भी है कि किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान चाहे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भले ही मान लिया जाय, किन्तु ज्ञान के अभाव का ज्ञान बिना अनुपलब्धि प्रमाण के नहीं हो सकता। जिस स्थल पर अन्य प्रमाणों का अभाव रहता है, वहाँ प्रमाणों का अभाव भी अन्य प्रमाण से नहीं जाना जा सकता, उसका ज्ञान भी अनुपलब्धि प्रमाण से ही होगा। नैयायिक को भी ज्ञानाभाव के ज्ञान एवं प्रमाणाभाव के ज्ञान के लिए बलात् इसी प्रमाण की शरण में आना पड़ेगा।

अनुपलब्धि के तात्त्विक विवेचन में यह बात भी महत्त्वपूर्ण है, कि "घटः पटो न" इस अन्योन्याभाव की प्रतीति में, घट पट में अनयोच्याभाव घट पट के परस्पर भिन्नत्व के कारण नहीं अपितु मिथ्यात्व के कारण है। घट एवं पट दोनों समान स्तर के हैं, दोनों वस्तु हैं; किन्तु जगत् मिथ्या है, मिथ्या एवं ब्रह्म में परस्पर भिन्नत्व भी नहीं है।

न्यायदर्शन अभाव को पदार्थ मानता है, इसलिये उसके मत से अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है, किन्तु वेदान्त अभाव को अधिकरण रूप मानता है, इसलिए उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं मानता, इस विषय में एक प्रश्न उठता है कि अविद्या की निवृत्ति के अनन्तर अविद्या का अभाव रहेगा, इससे द्वैत की सिद्धि हो जायेगी। क्योंकि ब्रह्म एवं अविद्या का अभाव ये दो पदार्थ रह जायेंगे। वेदान्त का एक विशेषसम्प्रदाय मिथ्यात्व का भी मिथ्यात्व मानता है। यहाँ पर सिद्ध होगा। जैसे— घटाभाव। इस घटाभाव का भी अभाव घट रूप होगा। उसी प्रकार मिथ्यात्व का मिथ्यात्व भी जगत् सत्य रूप होगा, द्वैतापत्ति यथावत् बनी रह जायेगी। इस पर वेदान्त कहता है कि दोनों मिथ्या पदार्थ एक कोटि के नहीं हैं, मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए तो विधि का निषेध किया जाता है, क्योंकि जगत् की विधि है, किन्तु मिथ्यात्व कोई विधि नहीं है वह तो निषेध है। निषेध का निषेध करना अलग बात है, और विधि का निषेध करना अलग बात है, इसलिए दोनों निषेध समान कोटि के नहीं हैं, अतः भिन्न हैं, इसलिए दोनों निषेध समान कोटि के नहीं हैं, अतः भिन्न है, इसलिए मिथ्यात्व के मिथ्यात्व से द्वैतापत्ति नहीं होगी, अपितु अद्वैत की ही सिद्धि होगी।

अद्वैत वेदान्त इन युक्तियों से अद्वैत की प्रतिष्ठा करता है। इन तथ्यों की सिद्ध में अनुपलब्धि प्रमाण का महत्त्वपूर्ण योगदान है, इसलिए तत्त्व विवेचन में इस प्रमाण की भी भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

1.10 प्रमाणफल का प्रतिपादन

प्रमाण का साक्षात् फल का अनुभव अज्ञान का नाश है। सर्वज्ञ के ज्ञान का फल केवल (परम आह्लाद) सुख और उपेक्षा (मध्यस्थ वृत्तिता) है, शेष जो साधारण लोग हैं उनके प्रमाण का फल आदेय—ग्रहण करने योग्य का ग्रहण और हेय छोड़ने योग्य का छोड़ना है।

प्रमाणस्य फलं साक्षादसान निवर्तनम्।

केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादान हानधीः।।

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के प्रसिद्ध ग्रन्थ में प्रमाण के फल पर विचार करते हुए लिखा है कि प्रमाण से द्विविध फल की सिद्धि होती है— (1) साधक के अपने स्वार्थ (तत्त्वज्ञान या सम्बोधि की सिद्धि और (2) पर-कल्याण की सिद्धि होती है। प्रमाण के रूप में भगवान् अपने तायित्व (तारकत्व) शक्ति के द्वारा दुःखी जनों का उद्धार होता है। ऐसे ही महापुरुषों के लिये कहा जाता है— “स्वयं तीर्णाः पराँश्च तारयन्ति” ।

1.11 सारांश

प्रमाणसिद्धान्त तथा तत्त्वसिद्धान्त के मध्य गहरे अन्तःसम्बन्धों के बारे में एक प्रसिद्ध उक्ति है कि **‘मानाधिनिं मेयसिद्धिः’** अर्थात् तत्त्वसिद्धान्त प्रमाणसिद्धान्त के अधीन है। जिस प्रकार की प्रमाणसिद्धान्त होगा, वैसा ही तत्त्वसिद्धान्त हमें प्राप्त होगा। उदाहरण के लिये चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही वैध प्रमाण मानता है। अतः चार्वाक के अनुसार इस जगत् में वे ही तत्त्व तत्त्व कहलाने योग्य हैं, जिनकी सिद्धि प्रत्यक्ष द्वारा होती है। अपने इस प्रमाण सिद्धान्तीय प्रतिबद्धता के कारण ही चार्वाक दर्शन में सृष्टि निर्माण में चार मूल तत्त्व (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि) माने हैं तथा प्रत्यक्ष और अनुमान पर आधारित होने के कारण बौद्धदर्शन किसी ग्रन्थ को ईश्वरकृत नहीं मानता तथा सृष्टि विज्ञान में क्षणिकवाद की स्थापना करता है। इसी प्रकार से अपरोक्षानुभूति को परमप्रमाण मानते हुए वेदान्त दर्शन ने सृष्टि का मूल तत्त्व ब्रह्मा को माना है तथा ब्रह्मा और सृष्टि के मध्य सम्बन्ध की व्याख्या में प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि प्रमाणों को प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया है।

1.12 पारिभाषिक शब्दावली

तत्त्वालोक : काश्मीर के प्रसिद्ध शैव दार्शनिक अभिनवगुप्त द्वारा लिखित दार्शनिक ग्रन्थ है।

अपरोक्षानुभूति : गहन प्रत्यक्ष का एक प्रकार जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य का भेद समाप्त हो जाता है। अपरोक्षानुभूति कहा जाता है। यह अनुभूति समाधि तथा गहन ध्यान के स्थिति में उपलब्ध होती है। आचार्य शंकर ने अपरोक्षानुभूति को ही पारमार्थिक ज्ञान का साधन माना है। उनके शब्दों में प्रत्यक्षानुभूति वह अनुभूति है, जहाँ प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार का ऐक्य हो जाता है।

क्षणिकवाद : बौद्धदर्शन का प्रमुख तात्त्विक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार इस जगत् के भौतिक और मानसिक सभी प्रकार के पदार्थ क्षणिक हैं। कोई पदार्थ नित्य नहीं है, क्षणिकवाद कहलाता है।

धर्मकीर्ति : ये सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध बौद्ध तर्कशास्त्री हैं। इन्होंने प्रमाण वार्तिक जैसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ भारत, तिब्बत, चीन इत्यादि देशों में आदर के साथ देखा जाता है।

मिथ्यात्व : यह एक पारिभाषिक दार्शनिक शब्द है, जिसका सामान्य अर्थ किसी वस्तु के असत्यता और अनित्यता के रूप में ग्रहण किया जाता है। इस शब्द का बहुधा प्रयोग वेदान्त और बौद्धदर्शन में किया गया है।

अनयोन्वाभाव : यह अभाव प्रमाण का एक प्रकार है। जब एक पृथक् वस्तु का दूसरे पृथक् वस्तु में अभाव अनयोन्वाभाव कहलाता है। जैसे— जल में आग और आग में जल का अभाव अनयोन्वाभाव है।

अन्यथानुपपत्ति : यह एक पारिभाषिक शब्द है। जब किसी कार्य की व्याख्या में बताये गये कारण से उस कार्य की व्याख्या नहीं होती, बल्कि अन्यथा कारण से उसकी सिद्धि होती हो, तो अन्यथानुपपत्ति कहलाती है।

जड़त्वात् परिच्छिन्नत्वात् : इस सिद्धान्त का अर्थ होता है कि प्रत्येक जड़ पदार्थ की एक सीमा होती है।

अतीन्द्रिय : वह ज्ञान या वह वस्तु जो इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता या प्राप्त किया जा सकता, अतीन्द्रिय कहलाता है। ईश्वर, आत्मा, अकारणता इत्यादि शब्द अतीन्द्रिय कहलाते हैं।

1.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली।
2. शुक्रनीतिसार
3. Problems of Interpretation and Translation of Philosophical and Religious Texts, N.S.S. Raman, Indian Institute of Advanced Study Rashtrapati Nivas, Shimla
4. कौटिल्य अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

1.14 बोध प्रश्न

1. ईश्वर, आत्मा विषयक विचार आस्था के विषय मात्र नहीं है, किन्तु प्रमाणित विचार हैं, इस कथन की व्याख्या कीजिये।
2. बौद्ध दर्शन अपनी प्रमाणमीमांसीय प्रतिबद्धता के कारण आत्मा के अस्तित्व को नहीं स्वीकारता। इस कथन की व्याख्या कीजिये।
3. हिन्दूधर्म दर्शन में एक सशक्त प्रमाण सिद्धान्त है। इस कथन की विवेचना कीजिये।
4. प्रमाण सिद्धान्त और तत्त्व सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं, इस कथन की समीक्षा कीजिये।
5. भारतीय दर्शन में विभिन्न प्रमाण सिद्धान्त के कारण विभिन्न तत्त्व सिद्धान्त का उद्भव हुआ है, इसकी विवेचना कीजिये।